An International Registered Peer Reviewed Bilingual Research Journal

SATRAACHEE

ISSN 2348-8425

सत्राची

वर्ष 9, अंक 33,
सितम्बर-दिसम्बर, 2021

संपादक
आनन्द बिहारी

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

SATRAACHEE

ISSN : 2348-8425

सत्राची

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष 9, अंक 33, सितम्बर-दिसम्बर, 2021

संरक्षक
चंद्रावती सिंह
तेलानी मीना होरो
दिलीप राम

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

संपादक
आनन्द बिहारी

समीक्षा संपादक
सुचिता वर्मा, आशुतोष पार्थेश्वर

सह-संपादक
जयप्रकाश सिंह

संपादन सहयोग
हुस्न आरा, भावना मिश्रा

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल
मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, राजू रंजन प्रसाद, अंजय कुमार, सुचिता वर्मा, आशुतोष पार्थेश्वर, पुष्पलता कुमारी, अरविन्द कुमार, नीरा चौधुरी।

❑❑❑

SATRAACHEE

Peer Reviewed and Refereed Research Journal

मूल्य : ₹ 200

सदस्यता शुल्क :

पंचवार्षिक	: 4000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 10000 रुपए (संस्थागत)
आजीवन	: 10,000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 20,000 रुपए (संस्थागत)

बैंक द्वारा सदस्यता शुल्क भेजने के लिए खाते का विवरण :

ANAND BIHARI, A/C No.: 38557011778

IFSC : SBIN0006551, Boring Canal Rd.-Rajapool,

East Boring Canal Road, Patna, Bihar, Pin: 800001

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

प्रकाशक : सत्राची फाउंडेशन, पटना

संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी

केशव कुंज, निचला तल्ला

बॉलिया चौक, सलिमपुर अहरा,

कदमकुआँ, पटना, बिहार, पिन : 800003

website : http://satraachee.org.in

E-mail : satraachee@gmail.com

: editor.satraachee@gmail.com

Mob. : 9661792414, 9470738162 (A.Bihari.)

: 9415256226 (Kamlesh Verma.)

SATRAACHEE

आलेख

स्त्री-संघर्ष का लोक निर्मित स्वरूप

❍ संगीता मौर्य

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में हुए स्त्री-आंदोलन के बहुत पहले भी नून-तेल की चिंता के साथ ही अपने समय-समाज की तमाम असमानताओं, विरोधों, पाबंदियों को झेलते हुए बहुत सी स्त्रियों, भक्त कवयित्रियों, थेरियों आदि ने अपनी मुक्ति की राह निकाली। इन स्त्रियों में थेरियों की अपेक्षा भक्तिकालीन कवयित्रियों पर खूब लिखा-पढ़ा गया है। जबकि भारत में स्त्री जीवन की प्रामाणिक प्रथम सामूहिक अभिव्यक्ति थेरियाँ ही हैं। बौद्ध धर्म के 'त्रिपिटक' के 'सुत्तपिटक' के अंतर्गत पाँच निकाय हैं। उसमें से एक 'खुद्दक निकाय' के नवें भाग में 73 बौद्ध भिक्षुणियों की जीवन गाथाओं का संकलन है। ये बौद्ध भिक्षुणी ही 'थेरी' कहलायीं। इन थेरियों में अमीर-गरीब, निम्न-उच्च, स्वामी और दासी के साथ ही समाज से सर्वथा बहिष्कृत, वेश्याओं के लिए भी जगह थी। विमल कीर्ति की थेरी गाथा पढ़ते हुये हम देखते हैं कि भिक्खुड़ी सुमंगला अपने जीवन के कष्टों को कैसे उजागर करती हैं। वह कहती हैं कि-

अहो! मैं मुक्त नारी! मेरी मुक्ति कितनी धन्य है!
पहले मैं मूसल से लेकर धान कूटा करती थी,
आज उससे मुक्त हुई। मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे बर्तन!
जिनके बीच में मैं मैली-कुचैली बैठती थी,
और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था,
जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था।
अब उस जीवन की आसक्तियों और मलों को
मैंने छोड़ दिया।
....
अहो! अब मैं कितनी सुखी हूँ!...'

इसी तरह धान कूट कर जीवन-यापन करने, अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करने की बात अन्य थेरियाँ भी करती हैं। इस बात को हम जानते हैं कि एक सामान्य स्त्री घर-गृहस्थी के बोझ तले दबी केवल एक हाड़-मांस का लोंदा नहीं है बल्कि घर से बाहर निकलने तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने में भी सक्षम है। वह अपनी जिम्मेदारियों के प्रति सोचने-समझने की भरपूर शक्ति रखती है। फिर भी देखा जाय तो हमारे समाज में स्त्रियों की हकमारी का इतिहास अनंत काल से जारी है। वह आधुनिक काल में अपने अधिकार एवं कर्तव्यबोध को लेकर आधुनिक शिक्षा एवं स्त्री मुक्ति

आंदोलनों के माध्यम से अधिक सचेत होती हैं। इससे पूर्व की स्थिति पर यदि हम एक दृष्टि डालें तो पाते हैं कि लोक प्रथाओं से लेकर धार्मिक मान्यताओं तक में स्त्रियों ने अपने दुःख और उससे मुक्ति के लिए अपनी सशक्त अभिव्यक्ति को एक माध्यम बनाया है।

थेरीगाथा के संबंध में डॉ. विमल कीर्ति लिखते हैं कि "*थेरीगाथा नारी स्वतंत्रता को प्रकट करने वाला प्रथम ग्रन्थ है।*"[2] यदि हम स्त्रियों की स्वतंत्रता को ब्राह्मण और बौद्ध धर्म की दृष्टि से देखें तो पाते हैं कि ब्राह्मण धर्म में स्त्रियों को संन्यास लेने और विमुक्ति का अधिकार नहीं था। स्त्रियों को वर्णभेद से अलग तथा भेदपरक संस्कारों से इतर ज्ञान और विमुक्ति की चाह ने उन्हें बुद्ध की शरण में जाने को प्रेरित किया। इसलिए सब दुःखों से मुक्ति के लिए वे बुद्ध की शरण में जाना चाहती हैं। बुद्ध की इन्हीं समानतागत विचारों को आत्मसात करते हुए लोक की स्त्रियाँ सारे सांसारिक कष्टों को झेलते हुए अपनी मुक्ति की राह इसी लोक में ढूँढती हैं। वह संन्यास ग्रहण नहीं करतीं बल्कि उसकी अपेक्षा अपने कर्म को अधिक महत्व देती हैं। मात्र संन्यास ग्रहण कर लेना ही लोक कल्याण का साधन नहीं है बल्कि इसी लोक में रहते हुए, लोक में व्याप्त समस्यायों के निराकरण हेतु सतत प्रयास करना संन्यास का बेहतर विकल्प हो सकता है। इसको अपने सांसारिक सन्दर्भों में देखें तो आज भी हमारे दैनिक जीवन में समाज की लोक मान्यताएँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं।

मुझे याद है जब मैं बहुत छोटी थी। उस समय जब बेटियाँ अपने ससुराल से मायके जाती थीं। वह तब भी रोती थीं। मेरी बुआ जब एक बार अपने मायके आयीं तब पिता जी का पैर पकड़ कर खूब जोर-जोर से रो रही थीं। तब की स्त्रियाँ आजकल की लड़कियों की तरह नहीं रोती थीं बल्कि अपने गीतों में अपने पूरे दुःख की गगरी को उड़ेल दिया करती थीं। मेरी बुआ रोते-रोते कह रही थीं-

> *"ऊँची-ऊँची महलिया देखि बियहला भैया बिरनू/घरवां क मरमिया नाही जनला भईया बिरनू।*
> *नौ-मन कुटी ला, नौ मन पिसी ला, नौ मन सिझई ला, रसोईयाँ भईया बिरनू।*
> *पिछली टिकरिया हमारो भोजनिया भईया बिरनू। ओहू में कुकुरा-बिलरिया भईया बिरनू।"*[3]

भले ही उस समय इस गीत को समझने की हमारी उम्र नहीं थी लेकिन हम जानते थे कि बुआ को ससुराल वाले बहुत मारते-पीटते और सताते हैं इसीलिए वह रो रही हैं। बुआ को रोते देख हम सब भी रो देते, यहाँ तक कि पिता जी भी। फिर याद आने लगा कि हमारी दादी जिनको हमलोग आजी कहा करते थे। उनको भी दादा जी बात-बात पर डाँट दिया करते, उनके मन-मुताबिक काम न होने पर हाथ उठा देते। घर-बाहर ऐसी स्थिति को देखते हुए मन दुःखी हो जाता। धीरे-धीरे यह सब स्त्रियों की नियति मान ली गयी।

बचपन की सारी बातें आज जेहन में बार-बार आने लगीं! माँ से पूछने पर वह बताती हैं कि रात में दो-तीन बजे से ही ढेकी (पैर से धान कूटने के लिए लकड़ी का बनाया हुआ) चलने लगती थी! ओखली से धान कूटते-कूटते हाथ में छाले पड़ जाते थे। काम करते करते कमर टूट जाती थी। मुझे अपना बचपन याद आता है जब मैं सोचती थी कि कुछ समय के लिए माँ मेरे पास बैठ जाय लेकिन घर गृहस्थी के काम के बोझ तले दबी माँ के पास समय नहीं होता। गीतांजलि श्री का उपन्यास 'माई' पढ़ते हुए बार-बार अपने गाँव-घर की कितनी माएँ उठ खड़ी होती हैं। जहाँ काम वाला हिस्सा उन सबके जिम्मे और नाम किसी और के हिस्से। गीतांजलि श्री लिखती हैं- "*दादा को घर में क्या हो रहा है, उसमें न दिलचस्पी थी न उनका ज्ञान, ..पर सरगना वही थे और जब चाहे दिलचस्पी ले लेते, न बोली बात भी सुन लेते क्या मजाल कि उनकी मंशा के खिलाफ कुछ हो। या उनकी चाह टाली जाय। ...दादा किसी सोच में डूबे भूल से कह जाएँ,*

'आज मटर का निमोना और चावल खाएँगे' - *तो बना-बनाया खाना एक तरफ सरका के माई दोबारा जुट जाती।"*[4] आगे लिखती हैं *"उन्हें औरतें नापसंद थीं। औरतों का घर के सामने की तरफ दिख जाना उन्हें खलता। मुझे याद है कि फाटक से घर तक बजरी की सड़क के किनारे,...फाटक खुलने की आवाज हुयी, मेहमान का जायजा लेने के पहले ही दादा फौरन बोले, 'सुनैना अन्दर जाओ, कुछ चाय-नाश्ता भेजने को कहो।' मैंने अपने में औरत उस पल देख ली।"*[5] इन सारी बातों को याद करती हूँ तो लगता है भारत के इन गाँवों में 'माई' की कितनी सीरीज बन सकती है! सिमोन ऐसे ही थोड़े कहती हैं *"स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।"* आन्तरीकरण की इसी प्रक्रिया को समाजीकरण कहा जाता है जिसमें व्यक्तियों को व्यवस्था से कैसे सामंजस्य बिठाया जाय, सिखाया जाता है। स्त्रियों के लिए इसे एक अनिवार्य शर्त के रूप में देखा जाता है। इस तरह स्त्रियों की एक परिधि का निर्धारण कर दिया जाता है। जिससे उनके अन्दर के सुख-दुःख को उनकी नियति मान लिया जाता है। भारत के इन गाँवों में स्त्री के जीवन से संबंधित उनके दुःख-दर्द से संबंधित कितने गीत लोक मानस में व्याप्त हैं। एक लड़की जब अपने मायके में रहती है तबकी उसकी स्थिति और जब शादी हो जाती है तब उसकी परिस्थितियाँ समय के अनुसार बदल जाती है-

"कथी के चटईया पापा हो बिछौले बाड़ा, हमरो के बयिठौवले बाड़ा ना।
कथी के करेजवा पापा हो बनवले बाड़ा, हमरो के बिसरवले बाड़ा ना ।।
कुश के चटईया बेटी हो बिछौले बाड़ी, तोहरा के बयिठौले बाड़ी हो ।
काठ के करेजवा बेटी हो बनवले बाड़ी, ये ही से बिसरवले बाड़ी हो।।"[6]

इन स्त्रियों ने अपनी आवाज और अपने जीवन के अनुभव को लोक गीतों में पिरो कर डाल दी है। अपने जीवन की समस्याओं को सामने लाकर, अपने दुःख को साझा कर उस दुःख से उबरने की कोशिश करती हैं।

"आँख के पुतरिया पापा हो तोहरे रहली, धिया हम दुलारी रहली ना।
कैसे बिसरौला पापा हो दुलारी बिया, हिय के समझवला कैसे ना।।
बगिया के फुलवा बेटी हो तोहीं रहलू, तोहिं घर के कोयलिया रहलू हो।
परत सिनुरवा बेटी हो पराया भईलू, तूं तो पराया रहलू हो।।
केतनो मनाई पापा हो, माने नाहीं लोरवा नयनवा ढारे हो।
छुटल जाता सखिया सहेलिया हमरो, अब सब बेगाना लागे हो।।"[8]

यह गीत पिता-पुत्री के संबंधों की पहचान लोक के माध्यम से करती हुई यह बताने की कोशिश करती है कि एक स्त्री जब तक उसकी शादी नहीं हुई होती तब तक तो पिता की आँखों की पुतरी बनी रहती है लेकिन शादी के बाद ही पराया हो जाती है। वह स्त्री इस बदले हुए व्यवहार के लिए अपने मन को मनाने की बार-बार कोशिश करती है। लेकिन जो घर अभी तक अपना था उसके पराया होने और सखी-सहेलियों की याद आने से आँखों से लगातार आँसू निकल रहे हैं। इस तरह से देखा जाय तो तमाम ऐसे गीत हैं जिनके माध्यम से स्त्रियाँ अपने मन की अभिव्यक्ति को प्रकट करती हैं। यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ये सारे गीत इन स्त्रियों के जीवन के अभिन्न अंग हैं, जिसको इनसे अलगाया नहीं जा सकता। इस सन्दर्भ में सुजाता लिखती हैं कि *"स्त्रियों के लिए भी जो अभिव्यक्तियाँ, जो बातें यों कहना मुश्किल होती हैं वे अक्सर लोकगीतों में व्यक्त हो जाती हैं। जिसे सिमोन स्त्रियों की सब्जेक्टिविटी कहती हैं वह इन गीतों में सामने आती है। ये वे तमाम भोगे हुए अनुभव (lived experiences) हैं जो*

स्त्री को मनुष्य के रूप में स्थापित करते हैं। जो दुनिया को देखने के 'पुरुष कोण' को बदलते हैं और स्त्री की दुनिया में लिए चलते हैं। वे तमाम अनुभव जिनसे स्त्री का होना और 'बनाया जाना' समझ आता है, वे दर्ज होते हैं और स्त्रियाँ खुद ही अपनी 'अदरिंग' की प्रक्रिया को उलटती हैं। उसका भी मन है, उसके भी आँसू हैं, उसके भी कष्ट हैं, वह भी मुँह में जबान रखती है। भले ही उस पर पहरे हैं लेकिन वह अपने रास्ते निकालती है और भाषा की सांकेतिकता का बखूबी इस्तेमाल करती है। लोकगीतों, लोक-गाथाओं और परीकथाओं का अध्ययन स्त्रीवाद और भाषा-विज्ञानियों ने खूब किया है।"[9]

मुझे याद है जब हमारे यहाँ धान की रोपनी होती थी। तब ढेर सारी औरतें बाहर (पलामू - झारखण्ड) से आती थीं। खेत में जातीं तब खूब गीत गातीं। उन गीतों को सुनकर मन लहराने लगता। लेकिन उनके अंतर्मन की गहराइयों में झाँकें तो लगता है कि उनमें उनके जीवन का दुःख और लाचारी अधिक व्याप्त थी। इन गीतों के माध्यम से वे अपने को उत्साहित करतीं और दिलासा दिलातीं ताकि उनका ध्यान शारीरिक श्रम की थकान से हटे। कार्ल मार्क्स के शब्दों को उधार लें तो यह कह सकते हैं कि ये गीत एक अफीम की तरफ कार्य करते हैं जिनको गाकर उन्हें अपनी थकान का एहसास कम होता। लगभग दस-पंद्रह दिन की रोपनी होती। हम बहनें चाची के साथ मिलकर इन सबके लिए रोज नाश्ता बनाते, (नाश्ते में रोटी बनती कभी चने या मटर की घुघुनी, या गेहूँ उबाल कर नमक मिलाकर दिया जाता) खाना बनाते, हम रोज दिन गिनते रहते कब रोपनी समाप्त हो और ये लोग यहाँ से जाएँ, हम इतना काम करके ऊब जाते। लेकिन उनके लिए खाना-नाश्ता बनाने का कार्य तो हमारे लिए कुछ ही दिन का था, लेकिन अपने जीविकोपार्जन हेतु उन्हें प्रतिदिन ऐसे कार्य करने पड़ते हैं। हम याद करें कि रोपनी के समय की धूप तो मिर्ची से भी तेज होती है। उसमें भी झुककर रोपनी करना, कितना कष्टकारी है! इस दर्द को वह धान रोपने वाली रोपनी ही बता सकती है -

"हाली-हाली रोप सखी परती में धान हो/ संगे-संगे गाव गीतिया लागी नाहीं घाम हो।
देखला पर नीमन लगे धनवाँ के जाय(जौ) हो/ गुबू-गुबू रोपत रयिहा/ लागी नाहीं घाम हो।।"[10]

एक रोपनी जो अभी नई-नई इस काम करना शुरू करती है। वह कहती है,

"बानी सुकुमार हमार कोमल बदनियाँ/ पिया रोपनिया हमसे नाहीं होई।
घर में बईठ के तूं जे बनबू कनियाँ/ भोजनियाँ ये धनियाँ कहवाँ से आई।।"[11]

सच में, दो-जून की रोटी की चिंता न हो तो इतना कठिन काम भला कौन करना चाहेगा।

"हमरा से सईयाँ धान न रोपाई/ दुखे कमर मोरा दुखे कलाई/ धरता जोख हमार देहियाँ दबा के।।"[12]

सच में धान की रोपनी का काम कितना कठिन होता है यह समझाया नहीं जा सकता। झुकने के लिए भोजपुरी में एक शब्द 'निहुरना' है। सही शब्द का इस्तेमाल करें तो दिन भर निहुरने से कमर दर्द से फटने लगती है। 'जोंक' यह अंग्रेजी वाला जोक्स नहीं है बल्कि यह खून चूसने वाला पानी का एक जीव है जो कीचड़ में ही रहता है। जिसके काटने से दर्द होता है। इन सबकी चिंता किये बिना रोपनहारी अपने काम में लगी रहती हैं।

आज जब मनोरंजन के इतने साधन उपलब्ध हैं तब भी पता नहीं क्यों उन गीतों की ओर मन बार-बार जाता है। उन रोपनियों के गीत मन में बार-बार कौंधने लगते हैं। हमें खाना बनाने में भले ही खराब लगता लेकिन उनके रहने से पूरा घर गुलजार रहता। वे दिन-भर धान रोपतीं रात में कोई कहानी कहतीं, कोई गीत गातीं, उनमें से तो कई झूमर नृत्य भी करतीं। आज जब कोई करने वाला नहीं बचा, सारे खेत बटाई पर

दिए जाने लगे। अब जब भी रोपनी का समय आता है। मन एक बार उन रोपनिहारियों को जरूर याद करता है।

कुछ समय पहले तक गाँव में खेतों में पानी भरने के लिए मोट (चमड़े का बना हुआ एक बड़ा सा थैला, जिसमें ज्यादा पानी आ सके) हुआ करता था। दो बैलों के सहारे कुँए से पानी इसी मोट के सहारे बाहर निकाला जाता था। दिन-दिन भर मोट चलते ही रहते थे। माँ कुछ ऐसी बातें बताती हैं कि विस्मय और आश्चर्य से मन भर जाता है। माँ उन दिनों को याद करते हुए बताती है कि रात में तीन बजे ही मोट चलने लगते। मेरी दोनों बड़ी बहनें तीन बजे रात से ही मोट हाँकने लगतीं, दो क्यारी खेत थे जो रोज सींचे जाते। एक तरफ का सींचा जाता तब दूसरी तरफ से सूखने लगता। माँ कहतीं हम कितने दिन दिन भर उपासे रह जाते। कभी रस पीकर, कभी साँवाँ-कोदो, तो कभी ककड़ी खाकर काम चलाना पड़ता। दोनों बहनें फूट (ककड़ी की ही एक प्रजाति) खाकर दिनभर मोट हाँकती रहतीं। गीत गाती रहतीं। जिससे उनका काम में मन लगा रहे। काम का बोझ कुछ हल्का हो जाय। यह सब बताते-बताते माँ की आँखों में आँसू आ जाते। माँ कहतीं ये सब क्यों पूछती हो, बहुत दुःख के दिन काटे हैं हमने! ये सब जानकर क्या करोगी! सच में देखा जाय तो ये सब बातें जानकर अब हम बहुत कुछ बदल तो नहीं सकते लेकिन हम सब यह अनुमान लगा सकते हैं कि लोक कैसे निर्मित होता है। यह लोक भूख से, प्यास से, दुःख-दर्द से और तमाम उन चीजों से मिलकर निर्मित होता जिसमें फूल कम काँटे अधिक होते हैं,

"धनवा सूखइन ए बेटी, धान के कियरिया हो/पनवा बरैया के दुकान।
गंगा सुखैनी ए बेटी, जमुना सुखैनी हो सुखि गइली नदिया के सेवार।।[13]
अमवा की डारी सुगनवा बोले हो/महुआ के डारी कोयलरिया हो।
मोरी बहिनी रानी की महलिया कागा बोले हो।
त बोलिया बड़ी सुहावन लागे हो।।"[14]

पानी भरते हुए जब स्त्रियाँ थक जातीं तब यह गीत कि धान के खेत सूख गये और धान भी सूख गया क्योंकि गंगा, यमुना सभी नदियाँ सूख गई और नदियों के सूखने से नदी के सारे किनारे भी सूख गये। हम देख सकते हैं तब की यांत्रिक दुनिया में व्यक्ति एक आयामी होता था। वह दिनभर एक ही काम में लगा रहता और अपनी अभिव्यक्तियों को गा-गुनगुना कर प्रकट करता। इस तरह से देखा जाय तो स्त्रियाँ अपने मन की अभिव्यक्ति इन गीतों के माध्यम से करती थीं। इसी तरह जतसार के गीत भी लोकप्रिय हैं-

"जंतवा पीसत सासू देहली हो सरपवा, देहली हो सरपवा
तोरे लेखे बहुरी हो असली रे सरपवा, बहुरि मोरे लेखे लपसी मछरिया हो ना"

इस गीत के माध्यम से सास-बहू के संबंधों की व्याख्या होती है। जाँत पीसते हुए सास बहू को श्राप देती है जिसकी उलाहना बहू सास को देती है तब सास कहती है जो तुमको श्राप लग रहा है वह मेरे लिए लपसी मछली का काम कर रहा है।

"सासू जंतवा गड़ावे गजवाओबर हो राम,
सासू महले में कटतू झरोखवा त झुरी-झुरी बयारि आवत हो,
रहिया के चलत बटोहिया त हो, भईया हमरो सनेसा लीहले जईहा न हो,
हमरऽ सनेसा हमरे ही रे अंगनवा कईहा, भइया तोर धन पीसतइ पसीजलि हो राम"[15]

रोपनी के गीत, पानी भरने के गीत आदि गीत गाकर अपने श्रम को कम करने की कोशिश भी करती

थीं। आज भी देखा जाता है कि माएँ अपने बच्चों को सुलाते समय लोरियाँ गाया करती हैं। सुमन राजे लिखती हैं, "*यह विचित्र किन्तु सत्य है कि लोक नायक तो बहुत हैं, जिनमें से कई लोक महाकाव्यों के नायक भी हैं, पर स्त्री नायिकाएँ सिर्फ स्त्री के कंठ में हैं।*"[16] आगे वे लिखती है, "*लोक जीवन की ये नायिकाएँ लोक के भीतर से ही उठती हैं और लोक द्वारा निर्धारित मूल्यों पर अपना उत्सर्ग करती हैं। ये गीत-कथाएँ स्त्रियों की ही रचनाएँ हैं, इसका प्रमाण यह है कि ये केवल स्त्रियों द्वारा ही गाई जाती हैं।*"[17]

लोक ज्ञान पद्धति का यह दृष्टिकोण 'विज्ञान' और 'व्यावहारिक बुद्धि' में अंतर को मिटाना है जिसमें व्यक्ति लोक जीवन में अपनी सारी समस्यायों का निराकरण इसी पद्धति के माध्यम से तलाशता है। उदाहरण के तौर पर एक निरक्षर वृद्ध स्त्री दूध को गर्म इसलिए कर देती है कि खराब न हो। उसे यह नहीं मालूम कि उसमें बैक्टीरिया की संख्या अधिक होने से दूध खराब हो सकता है। उसी तरह जब नागपंचमी के बाद हम बच्चे मिट्टी का एक लोदा लेते (वह नमी युक्त बायो खाद वाली मिट्टी होती थी) उसे खूब जतन करके गोल बनाते फिर उस गोल मिट्टी के नीचे का आकार चपटा कर देते। उस मिट्टी में जरई बो देते, रोज-रोज उस जरई में थोड़ा-थोड़ा पानी डालते रहते एक दिन वह जरई एक बित्ते का हो जाता तब कजरी के दिन हम लड़कियाँ उस जरई को मिट्टी के साथ गीत गाते तालाब या पोखरे की ओर चल देते। चारों तरफ से कई गाँव की लड़कियाँ उस पोखरे में जातीं। उस समय जायसी के 'पद्मावत' की वह पंक्ति बार-बार याद आती है जिसमें वे कहते हैं, "*पद्मावती सब सखी बुलाई, जनु फुलवारी सबै चली आई।*" हम सब लड़कियाँ मिट्टी की जरई के साथ एक साथ पोखरे में डूबते फिर मिट्टी नीचे छोड़ देते और जरई लेकर ऊपर आ जाते। उस जरई को हम अपने घर और पड़ोस में लोगों के कान पर रखते। यह एक रस्म हुआ करती थी इसके बदले लोग हमें पैसा देते। यह हमारे लिए एक सांस्कृतिक महोत्सव हुआ करता था। धीरे-धीरे पोखरा-तालाब भी जाते रहे और यह प्रथा भी! आज जब इतने वर्षों बाद पीछे मुड़कर देखती हूँ तब लगता है कि इन सब त्योहारों का क्या औचित्य था। इसको कृषि वैज्ञानिक लोग ठीक से समझेंगे लेकिन एक किसान परिवार में जन्म लेने की वजह से आज जो मैं महसूस कर पाती हूँ वह यह है कि उस समय बीज के अनुकूलन हेतु तापक्रम और नमी की टेस्टिंग भी इसी माध्यम से हो जाती थी। गौर करें तो कजरी के समय भी रोपनी का समय हुआ करती है। कजरी के समय लड़कियों के गीतों की अनुगूँज सुनाई पड़ती थी,

> "*धीरे-धीरे गिरे यमुना जी क पानी, नहर धईले जाला ये हरी।*
> *ओही नहरिया पर ससुर जी नोकरवा, धीरे-धीरे ढीलय नहर में पानी।*
> *नहर धईले जाला ये हरी*"[18]

बुवाई आने तक यह बीज घर की प्रयोगशाला में पास हो जाया करता था। हम बच्चों के माध्यम से बड़ों के कान तक पहुँच कर उन तक उन्नत बीज की बानगी पहुँच जाती थी। साथ ही जिस गोबर खाद का हम बच्चे इस्तेमाल करते थे उतना ही खाद खेती के लिए पर्याप्त थी (कहने का तात्पर्य उस अनुपात से है) जो बाद में हम रासायनिक खाद की तरफ मुड़ते हैं और सेहत के विनाश का रास्ता भी बनाते चलते हैं। इन गीतों और परम्पराओं के माध्यम से स्त्रियों ने लोक की उपस्थिति को जीवित किया हुआ है। हम जानते हैं कि स्त्रियाँ उत्सवधर्मी होती हैं। ये छोटे-छोटे तीज-त्यौहार उनके लिए खुशियाँ लेकर आता है। अपने गीत-गजल के माध्यम से ये स्त्रियाँ उन त्योहारों में रंग भरती हैं। इतना ही नहीं सदियों से ये गीत ही इन स्त्रियों की अभिव्यक्ति का माध्यम भी रहा है।

संदर्भ :

1. थेरीगाथा, डॉ. विमलकीर्ति, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली : 21 (भूमिका)
2. वही : 4
3. मीरा देवी (दीदी), उम्र : 45; ग्राम : बरईल, सोनभद्र
4. माई, गीतांजलि श्री, राजकमल पेपरबैक्स : 34
5. वही : 34-35
6. स्त्री : उपेक्षिता, सिमोन द बोउवार, प्रस्तुति : डॉ. प्रभा खेतान
7. बच्ची देवी (दीदी), उम्र : 45; गाँव : सरयां, देवरिया
8. वही
9. आलोचना का स्त्री पक्ष (पद्धति, परम्परा और पाठ) - सुजाता, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली : 198
10. श्वेता सोनी (छात्रा), राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर
11. वही
12. वही
13. श्वेता यादव, छात्रा, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर
14. आरती, छात्रा, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर
15. वही
16. इतिहास में स्त्री, सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ : 140
17. वही : 141
18. सरिता (बहन), उम्र : 40 वर्ष; गाँव : तिनताली, सोनभद्र

❑❑❑